

जो बच्चे नहीं सीख पाते !

मोहम्मद इसरार



किसी भी स्कूल से जुड़ी हुई दो सबसे महत्वपूर्ण कड़ियाँ मानी जाती हैं - शिक्षक और बच्चे। स्कूल के सन्दर्भ में इन्हें किसी भी क्रम में देखा जा सकता है। पहले शिक्षक, बाद में बच्चे या पहले बच्चे, बाद में शिक्षक। ऐसा इसलिए कि यदि कुछ वर्ष पहले तक शिक्षा, शिक्षक केन्द्रित थी तो वर्तमान में बाल केन्द्रित मानी जाने लगी है। बच्चों के सीखने से सम्बन्धित नए तथ्य सामने आने लगे हैं। यह दावा भी किया जाने लगा है कि बच्चे अपने ज्ञान का निर्माण स्वयं करते हैं। शिक्षक को केवल ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी होती हैं जिनमें बच्चा आसानी से सीख पाए। शिक्षाशास्त्री यह भी दावा करते हैं कि बच्चा 80 से 90 प्रतिशत अपने परिवेश और घर के माहौल आदि से ही सीखता है। हालाँकि यह विवाद का विषय हो सकता है। बहरहाल मामला चाहे कुछ भी हो लेकिन इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि स्कूल में बच्चे जो कुछ भी सीखते हैं उनमें शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका अवश्य होती है। एक शिक्षक हमेशा ही चाहता है कि उसके बच्चे विभिन्न कौशल सीखें और अच्छा प्रदर्शन करें। बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया से जुड़ा दूसरा पहलू यह भी है उसमें उसका सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश, घरेलू वातावरण, उसकी परवरिश, माता-पिता का सहयोग, मित्र-गणों से बातचीत आदि कितना सहयोग कर रहा होता है। बच्चों के सीखने या ज्ञान निर्माण करने में उक्त दोनों ही बिन्दुओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह कम या अधिक मात्रा में हो सकती है। और कुछ स्थितियों में बराबर भी हो सकती है। इस सन्दर्भ को अपने संज्ञान में आने वाले कुछ प्रमुख बिन्दुओं को आरेखित करके देखना चाहूँगा। यह मेरा अपना दृष्टिकोण और नज़रिया है। इसलिए इसे मैं स्वयं से जुड़ी एक छोटी-सी घटना के आलोक में देखते हुए आगे बढ़ना चाहूँगा।

मेरी परवरिश मेरे नाना के घर पर हुई थी। उस परिवार में कुल मिलाकर हम चौदह बच्चे पढ़ने-लिखने वाले थे। मेरे अलावा भी दो अन्य रिश्तेदारों के बच्चे उसी परिवार में रहकर शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। इसलिए बच्चों के मामले में वह परिवार काफ़ी भरा-पूरा था। परिवार के बड़े व सम्मानित सदस्यों मामा-मामी, नाना-नानी आदि के मध्य सभी बच्चों के पढ़ने-लिखने के बारे में ये तुलनात्मक बातें अवश्य होती थीं कि सभी बच्चों में कौन-सा बच्चा मेधावी है? कौन बुद्धिमान है और कौन सबसे

होशियार? अक्सर हम सभी की एक-दूसरे से तुलना करके देखी जाती थी। यह उनका दोष नहीं था क्योंकि आरम्भ से ही हमारे देश की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था तुलनात्मक प्रणाली पर आधारित रही है। और शिक्षा के मामले में तो कमोबेश प्रत्येक स्तर पर बच्चे की तुलना करके ही देखा जाता रहा है। वर्तमान में इस स्थिति में थोड़ा-सा बदलाव अवश्य आया हो और प्राथमिक स्तर पर भले ही सब बच्चों को समान स्तर का मानकर कक्षा-दर-कक्षा आगे बढ़ाते रहने की प्रक्रिया चल रही हो। लेकिन इससे आगे परीक्षा प्रणाली से गुजरने पर उनकी छँटनी होना स्वाभाविक है।

मेरी नानी मेरे सबसे छोटे मामा के चार बच्चों को बहुत बुद्धिमान, होशियार और तेज़ दिमागी मानती थीं। और उन बच्चों के बचपन के दिनों में उनके ज्ञान और कुशलतापूर्वक किए गए कार्यों का मुझसे बखान करते हुए उनकी भूरी-भूरी प्रशंसा किया करती थीं। उस समय अक्सर मैं नानी से कह दिया करता था कि बचपन में प्रत्येक बच्चा बीरबल होता है, बड़े होने पर ही उसके बारे में सही-सही पता चलता है कि वह क्या है? कैसा है? उस समय मुझे बच्चों के स्वभाव, उनके मनोविज्ञान, सीखने-समझने आदि से सम्बन्धित अधिक ज्ञान नहीं था। लेकिन बच्चों से जुड़े कुछ खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त करने के बाद मैं यह मानने लगा हूँ कि एक बच्चा अपने जीवन में वैसा ही बनता है जैसी घरेलू परिस्थितियाँ और सामाजिक वातावरण उसे बनने पर मजबूर करते हैं।

इस तथ्य को लगभग बाईस वर्ष बाद मैंने और गहराई से तब महसूस किया जब अच्छी-खासी शिक्षा प्राप्त करने और काफ़ी प्रयास करने के बावजूद भी मेरे मामा के वे चारों लड़के अपनी शिक्षानुरूप कोई कार्य नहीं पा सके। अन्त में उनमें से दो ने अपनी पुश्तैनी कृषि करना आरम्भ कर दिया और दो ने दुकान खोल ली। यदि आज मेरी नानी जीवित होती तो उनकी कई धारणाओं को आघात पहुँचा होता। बल्कि मैं सोचता हूँ कि शायद नानी उन अध्यापकों को भी अवश्य दोष देती जिन्होंने उन बच्चों को पढ़ाया था। क्योंकि मेरी शिक्षा-दीक्षा भी उसी स्कूल में हुई थी जिसमें मेरे मामा के बच्चे पढ़ते थे। कक्षाएँ भले ही आगे-पीछे थीं।

काफ़ी समय से शिक्षण कार्य से जुड़ा होने के कारण इतना अवश्य अनुभव कर पाया हूँ कि एक अध्यापक कभी भी नहीं

चाहता कि उसकी कक्षा का कोई बच्चा न सीखे या सीखने की प्रक्रिया में पिछड़े। वह एक (अनुमानित) तीस बच्चों की कक्षा हेतु अपनी प्रभावी योजना बनाता है। विभिन्न क्रियाकलाप और प्रयास करते हुए विषयवस्तु को बच्चों तक पहुँचाने का निरन्तर प्रयत्न करता है। और हर सम्भव प्रयास करता है कि उसे अपने काम में सफलता मिल जाए। फिर भी सीखने-सिखाने की इस प्रक्रिया में कुछ बच्चे पिछड़ जाते हैं या पिछड़े रहते हैं। अब यदि तीस बच्चों की कक्षा में से 5-7 बच्चे नहीं सीख पाते या सीखने की प्रक्रिया में पिछड़ते हैं तो इसके लिए केवल शिक्षक को ही दोषी क्यों माना जाए? क्योंकि मैं समझता हूँ, यदि ऐसे शिक्षक की शिक्षण योजना में कोई दोष होता तो तीस बच्चों की कक्षा में से बीस भी नहीं सीख पाते। या यह प्रतिशत बहुत कम होता। बहुत ही कर्मठ, लगनशील और जागरूक शिक्षकों की कक्षाओं तक मैंने इस प्रकार के उदाहरण देखे हैं।

ऐसी स्थिति में विभिन्न शिक्षाशास्त्री, शिक्षक-प्रशिक्षक व शिक्षक-शिक्षा में काम करने वाले लोग कमोबेश ऐसे ही स्लो लर्नर या न सीख पाने वाले बच्चों का उदाहरण लेते हुए सम्पूर्ण दोष शिक्षकों पर मढ़ने लगते हैं। शिक्षक के शिक्षण तरीकों पर सवाल उठाने लगते हैं। उन्हें विभिन्न सिद्धान्तों के फेर में उलझाकर अलग तरीकों से काम करने की सलाह सुझाने लगते हैं। जबकि प्रत्येक शिक्षक का शिक्षण का अपना तरीका, अपना ढंग और अपनी शैली होती है। जिसे वह शिक्षण कार्य करते हुए विकसित करता है। जिनका संकेत मैं ऊपर कर चुका हूँ, किसी बच्चे का सामाजिक वातावरण, घरेलू परिवेश, माता-पिता के आपसी झगड़े, बच्चे के साथ असहयोग की भावना, मित्र-गणों की संगति आदि कई अन्य कारण भी बच्चे के सीखने की प्रक्रिया में बाधक हो सकते हैं। किसी विषय का सीखा जाना बच्चे की रुचि व प्रवृत्ति पर भी तो निर्भर करता है। विषयवस्तु या अन्य क्रियाकलाप सीखने की किसी बच्चे में कितनी लगन व तत्परता है यह भी तो देखा जाना चाहिए। इस सन्दर्भ में जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान बागेश्वर, उत्तराखण्ड में प्रवक्ता पद पर कार्यरत डॉ. केवलानन्द काण्डपाल शैक्षिक दखल (वर्ष 6, अंक-10 जुलाई 2017) में 'सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं का एक मॉडल' नामक आलेख में लिखते हैं, "सीखना अत्यन्त व्यक्तिगत और व्यक्तिनिष्ठ अनुभव है, विद्यालय मानकों एवं मानदण्डों के आलोक में वस्तुनिष्ठता लाने का प्रयास करते हैं। इससे प्रत्येक बच्चे की ज्ञान सृजन में भागीदारी का असर पड़ता है। कक्षा-कक्ष में सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के दो अहम हिस्से हैं - पहला शिक्षण के माध्यम से ज्ञानार्जन और दूसरा अभ्यास के माध्यम से एक दक्षता हासिल करना और उसे सुदृढ़ करना। पहला तो शिक्षक के कार्य क्षेत्र में आता है और दूसरा विद्यार्थी

द्वारा की गई मेहनत पर निर्भर करता है।"

इस बिन्दु से स्पष्ट है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में शिक्षार्थी की भी उतनी ही प्रतिभागिता की आवश्यकता होती है जितनी कि शिक्षक की है। यदि ऐसा नहीं होता तो इसका विपरीत परिणाम निकलना स्वाभाविक है। इसी बिन्दु की ओर संकेत करते हुए कबीर दास भी कहते हैं, "गुरु बिचरा क्या करे, जब सिक्खहि महिं चूक/भावे त्यों परबोधि, बाँस बजाए फूँक।" हालाँकि मैं यह अवश्य मानता हूँ कि एक शिक्षक का पढ़ाने-लिखाने का तरीका भी बच्चे की सीखने की प्रक्रिया में बहुत उपयोगी होता है इसलिए उसे अपनी शिक्षण विधियों की हमेशा समीक्षा करते रहना चाहिए। और नवाचारी पद्धतियों व सीखने-सिखाने के सिद्धान्तों की भी समझ होनी चाहिए।

तीन महीने अज़ीम प्रेमजी स्कूल, उधमसिंह नगर में शिक्षण कार्य करने के पश्चात बच्चों के सीखने के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार का अनुभव भी हुआ। जैसे एक शिक्षक और बच्चे के बीच आपसी संवाद, कक्षा शिक्षण से जुड़ाव, स्कूल में उपस्थिति (शिक्षक और बच्चे दोनों) आदि का अवलोकन करके जब मैंने देखा तो मुझे 365 में से लगभग 200 दिन या इससे कम ही शिक्षक और बच्चों का आपसी व स्कूल से जुड़ाव दिखाई दिया। और वर्ष भर में औसतन तीन-साढ़े तीन घण्टे के लगभग ही एक दिन में शिक्षक का बच्चे को सहयोग मिल पाता है। और इन घण्टों में भी अलग-अलग समय में अलग-अलग शिक्षक बच्चे के साथ सहयोग, बातचीत व उसकी सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का हिस्सा बन रहे होते हैं। और फिर प्रत्येक शिक्षक का बच्चों से बातचीत का ढंग व तरीका भी तो अलग-अलग होता है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि इतना कम समय बच्चे के साथ व्यतीत करने के बाद हम उसके विचारशील, कल्पनाशील और जागरूक नागरिक बनने जैसी बड़ी-बड़ी आशाएँ और कल्पनाएँ क्यों पालने लगते हैं?

मुझे कई बार ऐसा भी एहसास होता है कि किसी स्कूल को समग्रता में देखने के कारण शिक्षक के पास शिक्षण से इतर भी बहुत-सा स्कूली काम होता है। जिसके कारण वह अपनी प्रभावी शिक्षण योजना बनाकर भी उस पर उतनी लगन से काम नहीं कर पाता जितना उसे करना चाहिए। फिर उसका बार-बार धैर्य टूटता है और वह हतोत्साहित होकर काम करने लगता है। जब मैंने इस मुद्दे पर कुछ शिक्षाविदों से बात की तो उन्होंने अक्सर इसे दूसरा मुद्दा (शिक्षण से इतर) बताकर अनदेखा कर दिया। मैं मानता हूँ कि जब मुद्दा शिक्षक, शिक्षा और शिक्षार्थी का है तो उसे शिक्षण से अलग करके क्यों देखा जाना चाहिए? आखिर इसका भी तो बच्चों के सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर कोई-न-कोई तो असर पड़ता ही होगा?

पता नहीं क्यों मेरे मन में ऐसी धारणा भी पैठ कर गई है कि

हम अपने बालकों का विकास विदेशी विद्वानों, शिक्षाशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों आदि के विचारों के आलोक में देखना चाहने लगे हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका, फिनलैण्ड जैसे देशों से अपने देश की शिक्षा व्यवस्था की तुलना करके देखने लगे हैं। उन देशों के तौर-तरीकों को अपनी शिक्षा व्यवस्था में आरोपित करने में लगे हुए हैं। और चाहते हैं कि हमारे बच्चों

का सामाजिक-सांस्कृतिक विकास, उनका सीखना-समझना ऐसे ही देशों के विद्वानों के विचारों के सन्दर्भ में हो। जबकि अपने देश की स्थितियों-परिस्थितियों के कारण अभी यहाँ की शैक्षिक भूमि इतनी उपजाऊ नहीं हुई है कि इसमें उन सबके विचारों का बीज रोपित किया जा सके।

मोहम्मद इसरार इन दिनों अज़ीम प्रेमजी स्कूल, दिनेशपुर, उधम सिंह नगर, उत्तराखण्ड में हिन्दी के शिक्षक हैं। इसके पहले वे लगभग ढाई वर्ष अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में भाषा के स्रोत व्यक्ति के रूप में कार्यरत थे। उन्हें विभिन्न आयु समूह के बच्चों के काम करने का 14 वर्ष का अनुभव है। उन्होंने हिन्दी एवं संस्कृत में स्नातकोत्तर उपाधि ली है। साथ ही पी.एचडी. भी की है। उन्हें कहानियाँ लिखना अच्छा लगता है। उनसे mohd.israr@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।